

बड़े-बड़े शहरों में कुछ नम बातें

“मैं एक कमरे में बैठी हूँ। यहाँ कई लोग हैं। मैं उनके बीच चल रही बातचीत और उनकी आवाजों को सुन रही हूँ। कुछलडिकियाँ और और और आपस में अपने दोस्तों और अपनी लोकेलीटी के बारे में बात कर रहे हैं। तभी एक ने अपना लेख सबको पढ़ कर सुनाना शुरू किया।”

- एलएनजेपी कंयूनर की साथी, बुशरा

एक शहर को समझने के कई तरीके हो सकते हैं। अक्सर रोज़मरा के बहाव और गति को इसमें जगह और माध्यम नहीं मिलता। सायबर मोहल्ला की शुरुआत साढ़े चार साल पहले, यानी २००१ में हुई। इसमें कोशिश थी कि तलाश जाए कि शहर की तेज़-तरार और ऊँची ध्वनि के बीच ज़िंदगियों के बारे में ये चुप्पी क्यों हो जाती है? ये एक प्रयोग था — बिना अंत वाली एक तलाश। तकनीक, डिज़िन और तरह-तरह के मीडिया पॉर्ट इस तलाश के माध्यम बने।

आज सायबर मोहल्ला के दिल्ली में तीन लोकेलीटी में लैब है — एलएनजेपी, दक्षिणपुरी और नांगलामाची में। इसमें हम हमउप्र, हमसफर मिल कर शहर पर सोचते, शहर में नम बातें को तलाशते और उस पर कुछ समझ बनाने में जुटे हैं।

लेख, फोटोग्राफ़, ग्राफिक्सः
एलएनजेपी, दक्षिणपुरी और नांगलामाची के कंयूनर के सभी सोधकर्ता

संपादन, सज्जा और प्रस्तुति:
यशोदा सिंह
लख्मी चंद कोहली

संपादकीय सुझावः
प्रभात कुमार ज्ञा, मृत्युंजय चटर्जी, श्वेता सारदा

प्रस्तुति सहयोगः
सोहन पाल, पुष्पा रॉय

प्रकाशकः
अंकुर: सोसायटी फॉर ऑलटरनेटिव्ज़ इन एडुकेशन, 7/10 सर्वप्रिय विहार, नई दिल्ली - 110016
सराय + सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ़ डिवलपमेंट सोसाइटीज़, 29ए राजपुर रोड, दिल्ली - 110054

क्या हुआ इतने समय से चिढ़ी क्यों नहीं लिखी?

इस प्रिका का अगला अंक रोज़मरा में तकनीकी चीज़ों के साथ जुड़ा, अनुभव, सोच, खेल पर होगा। आगे आप इस अंक के लिए अपने कुछ लेख हमें भेजें, या आकर हमसे बातचीत करें, तो हमें खुशी होगी।

हमारा पता है, आप ही की लोकैलीटी में कंयूनर, या broadsheet@cm.sarai.net या ankureducation@vsnl.net

ऑटो चल रहा है

सफर लम्बा है, सवारी पूछती है, “एफ़प्स है?”

सिकंदर सर 12 साल से ऑटो चला रहे हैं। आजकल लोग बहुत रंगीन हो गए हैं, सब को ऑटो भी मस्त चाहिए, गीत गाना हुआ। पर डकारते ऑटो की खड़-खड़-खड़ नहीं, जिसे सुनते ही सवारी आगे तो तरफ़ सरक लेती है। गीत हो गुनगुनाता हुआ, लता मगेश्वर, किशोर कुमार की आवाज़ में। पर रेडियो तो जल्दी ही ख़राब हो गया, अब चलता नहीं।

सवारी को तलब है सफर को हल्का बनाने की। सामने आइने में झाँका। उस पर लगे स्टिकर पर नज़र पड़ी, तो देखा, “मेरा हमर्द आइना मेरा दुश्मन हो गया, आधिर कसर किस का है?” चेहरा देखे बिना, बाल संवरे बिना ही नज़रें खुमा लीं। अब किसी और चीज़ की तलाश है।

शायद कुछ सोचते हुए ऊपर आसमान की तरफ़ सिर उठाया। पर ऊपर तो ऑटो की छत थी। और उसके नीचे, उस पीली, मोटी, कड़क तिरपाल को सादाता हुआ, एक लोहे का सरिया — ऑटो के मज़बूत ढाँचे का एक पात्र। दोनों आपस में सटे हुए थे। और उन के बीच कसा हुआ था एक अखबार।

हाथ बढ़ा कर सवारी ने उसे निकाला, और खोल कर पढ़ने लगा। उस अखबार पर लिखी तारीख तो मालुम नहीं, पर उस पर पड़ी सलवारों को देखकर अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि उसे कितनी ही बार वहाँ से निकाला, और वहाँ वापस डाला गया है। दूसरी कई सवारियों ने पढ़ा होगा, और सवारियों का इंतज़ार करते, सड़क के किनारे ऑटो लगाकर सिकंदर सर ने भी।

ये एक तस्वीर है जो ब्रॉडशीट की कल्पना करते बहत इस बार हमारे साथ रही। हमने इस के ज़रिये सोचने की कोशिश की, कि सिकंदर सर जब ये प्रिका पढ़ें, तो इस में ऐसा क्या मुत्याम अहसास हो जिसे पढ़कर वो इस में किसी छाँव की ठांडक को महसूस कर सकें। हम चाहते हैं कि इस प्रिका को उनके सफर में एक जगह मिले, इसके लिए वो अपने सफर में एक ठिकाना बनाएँ — जैसे उस मोड़ के रखे गए अखबार के लिए है।

पेटी पर लगे शीशों की चमक नज़रों को अपनी तरफ़ खींच रही है

वो अपनी पेटी को इस कदर सजाते हैं, कि उनके दोस्त उहें ‘चमकीला’ कहते हैं। सचमुच, उनकी पेटी को देख कर उनकी रंगीनियत का अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि किसे ये पेटी, जिस की सुवर्ह उठते ही वो पूजा करते हैं, और फिर सुबह से शाम अपने काँधे पर लटकाए गली-गली घूमते हैं, अपने ग्राहकों की तलाश में, उनके जूते ठांक करते हुए। उन्होंने अपनी पेटी पर कुछ फिल्म स्टारों के फोटो, कुछ स्टिकर और कुछ शीशे लगाकर उसे बड़ी ही हसीन बनाया हुआ है। फोटो पोस्ट-कार्ड के साइज़ के हैं। हर फोटो के दोनों तरफ़ छेटे-छोटे शीशे हैं, जो सूरज की रोशनी में टकराकर एक चमक अपने आसपास फेंकते हैं।

वो ज़्यादा पढ़ तो नहीं सकते, या फिर पढ़ने का उन्हें शौक नहीं। पर मैंगज़ीनों में काफ़ी दिलचस्पी है। उन्हें पढ़ने में नहीं बल्कि काटने-फाड़ने में मज़ा आता है। उनके लिए मैंगज़ीनों या अखबारों में ऐसा क्या हो जिसे वो काटकर अपनी पेटी पर सजाकर उसे हसीन बना सके, उन्हें यही तलाश रहती है। इस कटे-फटे को पेटी पर लगाकर वो अपनी कल्पना सब के बीच रखते हैं। जिन रिश्तों में वो कुछ कह नहीं पाते, वे स्टिकर और वो पेटी बहुत कुछ कह देती है। शायद इस तरह अपने आप को हल्का करते हैं, या फिर शायद पेटी के वज़न में हल्कापन लाते हैं।

ये शाख़ जो पढ़ तो नहीं रहा, पर उस में से कुछ काट कर उसे अपने से चंद मिन्डों के लिए जोड़ लेता है — ये शाख़ भी इस बार हमारी कल्पना में रहा। जिस का कोई निर्धारित ठिकाना नहीं, वो अपने अलग-अलग पड़वों में क्या तलाशता है? जो जाज़ुकता में बहता है, वो अपने अहसासों को तरल बना कर कैसे सब के बीच बहाता है?

फ्लाई ओवर पर अब ट्रैफ़िक कम हो गया है

गमते से गुज़रती चंद गाड़ियों की रोशनी सड़क पर कुछ चमकीली बिंदियों जैसी दिखाई पड़ रही है। फ्लाई ओवर पर इस्तेहारों के बोर्ड भी जल उठे हैं। हिंदुस्तान टाइम्स के ऐड वाला लाल और सफेद बोर्ड जगमग हो चला है। उस के एक विनारे पर, अपनी साइक्ल खड़ी कर के, एक नौजवान बोर्ड से टेक लगाए, उस में से निकलती हुई रोशनी में किसी लम्बे से काग़ज को बार-बार पढ़ रहा है। काग़ज पर से रोशनी फिल्स लग कर उस के चेहरे पर पढ़ रही है, और उस की ऊँचों में टिमटिमा रही है। कुछ तेज़-रफ़तार गाड़ियाँ पास से गुज़र रही हैं। और दिन की थकान के लिए कुछ सुस्कृदम अपने आशयों की तरफ़ बढ़ रहे हैं।

गुज़रते राही अपने में मगन इस नौजवान को मुड़-मुड़ के निहारते हैं। कुछ धुंधली-सी, फेहदी-सी ये तस्वीर, जिसे देखने, जानने और समझने में थोड़ी ललचारी-सी उमग मालूम होती है। कुछ सोच उस शाख़ के बारे में होगी, कुछ सोच अपने लिए। और इन के बीच का चार क़दम का फ़ैसला अपने अंदर कितनी कहानियाँ, कितने ज़ज़बात, कितनी अनकही समाए हुए होगा।

इन अहसासों, इन सोचों, और अनुभवों को ये छूट है कि वो सड़क की लचक के साथ बहें, और हवा के झोंकों के साथ उड़ें। क्या ये प्रिका, जिसे आप ने अपनी अपने हाथों में पकड़ा हुआ है, अपने अंदर शहर के ऐसे कुछ लम्हे देखा सकती है, जो आप की नम नज़रों में कुछ पल टहल पाएँ, हम इसी कोशिश में हैं।

इस प्रिका की आप की रोज़मरा और कल्पना में जगह कहाँ है? दिन के किस पहर, कहाँ बैठ कर आप इसे पढ़ते हैं? इसके कौन से पहलू आप अपने मन में दोहराते हैं? इसे मोड़ कर आप कहाँ रखते हैं?

बड़े-बड़े शहरों में कुछ नम बातें

दोस्ती की तलाश में कुछ लेख

दूसरा अंक, 01 मई से 01 अगस्त 2005

धृतराष्ट्र और संजय के बीच बातें हो रही हैं। धृतराष्ट्र, जो बचपन से ही देख नहीं सकते, और संजय, जो आँखों-देखी उहें बता रहे हैं। पर वो क्या बताएँ? उतावले हुए धृतराष्ट्र समय-समय पर अपने सवालों के ज़रिए संजय को और देखने में मदद करते हैं। और दोनों इस तरह मिल-जुल कर एक लेख की रचना करते हैं।

धृतराष्ट्र: संजय, आजकल के नौजवान किस बारे में सोच रहे हैं?

संजय: महाराज, मुझे दिख रहे हैं शहर की गलियों में घूमते कुछ नौजवान। उन की बातों से लगता है वो रोज़मरा के बारे में सोच रहे हैं।

धृतराष्ट्र: संजय, ये नौजवान रोज़मरा किस को कहते हैं? रोज़मरा में क्या है?

(बड़े अद्वार से) महाराज, वो कहते हैं, ज़िंदगी में जो कुछ धीरी रसायर में लगतातार चलता है, वो रोज़मरा है।

वो, जो घटना से हट कर होता है। रोज़मरा एक जाल है, जो हर तरफ़ फैला है। (पास ही गाँधीरी बैठी हैं, जो ये सारी बातें सुन रही हैं।)

गाँधीरी: जाल? हाँ कभी-कभी मुझे काम होता है तो मैं कहीं जा नहीं पाती। रोज़मरा के जाल में फ़ंस जाती हूँ। जैस

बड़े-बड़े शहरों में कुछ नम बातें



रफ्तार भरी ज़िन्दगी से, पस्त पड़ते हौसलों में,
कुछ पल खीचने की ख़्वाहिश लिये, निकलते हम और आप।

गली, मोहल्ले, सड़क, बाजार में, कुछ ऐसी जगह तलाशते हुए,
जो हमें अपने साए में प्रनाम देने की जुस्तज़ु रखती हो।

जैसे एक पेड़ की छाँव।

पेड़ की छाँव क्या है? क्या वो न्योता देती है? जब हम उसकी छाँव में जाकर बैठते हैं, तो हम कौन हैं?

हो सकता है कि “हम” में से एक अस्पताल की धक्का-मुक्की से निकली हुई ‘बड़ी बी’ हो, जिनके हाथ में एक नीले रंग की पालिथीन में कई ख़ाकी रंग के पर्चे मुड़े रखे हैं। बुर्खे पर पड़ी सलवटों के बीच से हाथ निकालती हुई, चेहरे पर से पसाने की चमकीली बून्दों को साफ़ करते हुए एक ऐसी जगह की खोज में हैं जहाँ बैठने के साथ-साथ उन्हें ठाण्डी हवा की भी मज़ा आ जाए।

या दो दोस्त जो अपनी ख़ास बातें, बिना ज़िद्दके किसी ऐसी जगह पर शेयर करना चाहते हैं, जहाँ उनकी बातों में हामी भरने के लिये नहीं नहीं चिढ़ियाएँ उनके साथ हों।

या 22-23 साल का एक नौजवान, जिसके सिर पर एक बड़ा-सा टोकरा और उल्टे हाथ के कान्धे पर लदा हुआ बड़ा-सा कपड़ों का गट्टर, माथे पर हल्की सी सलवटें और नज़रों में तलाश है, इस सुस्त दोषहरी में सुस्ताने के लिये एक सुकूनदह जगह की।

या हाथ में थैला लिए दो बुरुंग जो सड़क पर टहलते हुए, और इधर-उधर नज़र घुमाते हुए चल रहे हैं कि कहाँ बैठकर वो अपना टाइम-पास कर सकें, यानि ताश के पत्तों की गड़ी निकाल कर पत्तों में खुद को कुछ गुमा सकें।

हमारे आमपास वो साए कहाँ हैं, जिनकी छुअन में लोग अपना समय गुज़ारते हैं? हम सभी को तलाश रहती है एक ‘कहाँ’ की, जिसमें मालों चलने के बाद हम अपने नम हुए बदन या बंजर पड़ते गते को थोड़ी देर बैठकर गीला कर सकें।

तो फिर क्या हम ये कह सकते हैं कि पेड़ की छाँव हमारे अंदर चल रहे मौसमों का आधास करने का एक चरिया है, जिसके हल्के और गहरे पड़ते अक्स से हम अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि आज हमारी कल्पना के आसमान पर कौन से रंग का पेट हुआ है?

एक बहुत पुराना किस्सा है जो हमने अपने अज़ीज़ों से सुना है — यानि अपने चाचा जी और दादाजी से। ये किस्सा यूँ शुरू होता है:

किसी ज़माने में एक राजा हुआ करता था। जब भी वो किसी नाई से बाल कटवाता तो उसे “सज़ा-ए-मौत” दे देता था, ऐसे ही एक नाई और आए जिनका नाम था मियाँ बब्बन। उन्होंने जब राजा जी के बाल काटे तो राजा जी का भेद खुला। नाई के बहुत मिन्नत करने पर राजा जी ने बब्बन को एक शर्त पर बद्धा दिया कि वो इस राज़ को किसी पर ज़ाहिर नहीं करेंगा। बब्बन मियाँ पेट के हल्के थे। इस बात से उनका पेट फूल गया और वो निकल पड़े ज़ंगल में किसी ऐसी जगह की तलाश में जहाँ वो अपने पेट का दर्द हल्का कर सकें।

उन्होंने एक सूखे पड़े कुएँ में झाँका और ज़ोर से चिल्लाए, “राजा के सिर पर सींग!”

उसी कुएँ में एक पेड़ उगा हुआ था। कुछ सालों बाद उसी पेड़ का तबला बनाया गया और राजा जी की शान में बजाया गया। उसकी तरंगों में सुर गूँजे, “राजा के सिर पर सींग!”

पूरी सभा जैसे सकते में आ गई।

ऐसी कितनी ही कहनियाँ हैं जो लोग सदियों से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने शब्दों में संजोते आए हैं। हर किसी को कोई तलाश होती है, और हर तलाश में उनकी अपनी वजहें छुपी होती हैं। हम सभी की वजहें कुछ भी हों, जाने-अनजाने हम सभी एक-दूसरे की खुशबुओं से जुड़ते चले जाते हैं।

इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि अपने “कहाँ” की तलाश करते हुए हम जहाँ पहुँचे, वहाँ हमारे पहले या हमारे बाद कौन आया होगा या आगे चल कर कौन आयेगा!

क्या पेड़ की छाँव एक न्योता है, जो हमें अपनी तरफ़ खींचती ले जाती है?

अगर पेड़ की छाँव न्योता है, तो पेड़ क्या है? पेड़ की छाँव हमारे लिए एक आसरा है, तो पेड़ के लिए वो क्या है? परिदें के लिये वो बसेरा है, तो पेड़ के साए में बैठा कोई मुसाफ़िर उस परिदे के लिए क्या है?

ब्रॉडशीट एडिटोरियल कलेक्टिव
यशोदा और लस्थी
सभी सायबरमोहल्ला साथियों के साथ।



पिछले हफ्ते हमारे एक साथी की जान-पहचान की एक डॉक्टर से एक न्योता आया — उन के अस्पताल में एक कॉन्फरेंस में डॉक्टरों, स्वास्थ्य पर काम करते कार्यकर्ताओं और आम आदमियों के बीच एक बातचीत आयोजित की जा रही थी। वो जाना चाहती थी कि क्या सायबर मोहल्ला का कोई साथी इस बातचीत में शामिल होना चाहेगा? हम ने ये न्योता एक दम कबूल किया — अधिकारी, ऐसा रोज़ थोड़ा न होता है कि डॉक्टर आम इंसान से डॉक्टर और पेशान के रिश्ते के बाहर स्वास्थ्य पर बातचीत करना चाहते हों।

तो मैंने एक लेख तैयार किया, और निर्धारित दिन पर साथ ही के एलएनजेरी अस्पताल के अंडिटोरियम में पहुँच गई। लगभग तीन सौ लोग वहाँ सुनने के लिए मौजूद थे। चार डॉक्टरों का एक पैनल स्टेज पर बैठा था, सब की प्रेज़ेन्टेशनों को सुनता हुआ। बारी-बारी कई लोग माइक पर आ कर दो-दो मिनट के प्रेज़ेन्टेशन कर रहे थे। फिर मैंने अपना लेख सुनाना शुरू किया:

वो क्या है जो देखना में हूँ हूँ, पर बोलने में न?

हमारी ज़िंदगी में कुछ जगहें ऐसी होती हैं जिनके बारे में बात उन के सामाजिक रिश्तों को अनदेखा करते हुए ही की जाती है। मानो वो जैसी है, उन्हें उससे अलग ही होना चाहिए। जैसे उन की हकीकत और रोज़मर्रा को छोड़ कर ही उन्हें समझना मुमकिन है।

मैं सवाल के रूप में आप के बीच ऐसी ही एक जगह के बारे में बात रखना चाहती हूँ, जो एलएनजेरी कलोनी में है।

जिस जगह के बारे में मैं बता रही हूँ, वो पीले रंग की बिल्डिंग है। इस के पहले माले में अंकुर सेंटर है, जहाँ बच्चों का सेंटर और लाइब्रेरी चलते हैं, और साथ वाले कमरे में कंप्यूटर हैं जहाँ 15 से 25 साल के नौजवान रोज़ना मिल कर शहर और मीडिया पर रिसर्च करते हैं। (ऐसे लिल्ली में तीन कंप्यूटर हैं)

इस बिल्डिंग में नीचे, पहले माले पर, एक कमरा है जहाँ पड़ोस के अस्पताल से जूनियर डॉक्टर हर हफ्ते आते हैं। उनमें से एक सीनियर डॉक्टर होता है, जो जूनियर डॉक्टरों के काम देखता है। ये डिसपेंसरी कलोनी के लिए काफ़ी महत्वपूर्ण हो गई है। लोग यहाँ अपने छोटे और बड़े से बड़े मर्ज़ ले कर आते हैं। वो जानते हैं कि यहाँ जो दवाइयाँ मिलती हों मुफ़्त तो होंगी ही पर साथ ही साथ नकली भी नहीं होंगी। और सब से ज़रूरी बात तो ये है कि यहाँ आने से उन्हें कहीं दूर जा कर समय का हर्ज़ नहीं होता।

डिसपेंसरी के एकदम बाहर, जहाँ से बिल्डिंग के अंदर जाने का रास्ता है, एक छत वाले आंगन जैसी जगह है। यहाँ लोकलिटी में जिन लोगों का इंतकाल हो जाता है, उन के शरीर को लाया जाता है। यहाँ पर उन के शरीर को नहलाया जाता है, और फिर सफेद चार में लपेट कर दफनाने के लिए तैयार किया जाता है। फिर इस बिल्डिंग में से ही उसे गली में से ले जा कर कलोनी के बाहर ले जाया जाता है। कुछ भी हो, गली में चार चर्ती हुई बकरियाँ ज़िंदगी और मौत के बारे में सोचती रहती हैं।

यही आंगन कलोनी की लड़कियों की शादी के लिए भी काम आती है। जिन की बेटी की शादी होती है, वो कुछ दिन पहले इस बिल्डिंग संभालने वालों से बात कर के उसे अपने लिए बुक करवा लेते हैं। शादी के दिन ये बिल्डिंग एकदम दुल्हन की तरह सज जाती है।

इसी आंगन के ठीक ऊपर, कम्यूनर के सामने की जगह भी अक्सर काफ़ी चहल-पहल वाली हो जाती है। ये तब होता है जब कलोनी के कुछ लोग आ कर अपने रोज़मर्रा के किस्मे-कहनियाँ आपस में बाँटते हैं। ये हर महीने-दो महीने में होता है, और पूरा दिन इस तरह अपने अनुभव और कहनियाँ सुनने-सुनने में बीतता है। ये लोग कोई भी हो सकते हैं — बुरुर्ग, या फिर टीचर, या छोटे बच्चे, या एलएनजेरी के सामने वाले अस्तवल में काम करने वाले लोग, वैरैह।

व्यों, है न ये एक ख़ास जगह! लोग यहाँ सेहत तलाशते हुए आते हैं, अपने जीवन का सफ़र तय करने के बाद तैयार हो कर शमशान भूमि जाने के लिये आते हैं, अपनी ज़िंदगी की हसीन सामों में अपने गुज़रे दिनों के किस्मे-कहने-सुनने आते हैं, अपनी बचपन से अगली सीढ़ी पर चढ़ने के बाद शहर को टोटालने, उसे नवकाशने आते हैं।

मुझे आप ने न्योता दिया था कि मैं जहाँ रहती हूँ, वहाँ से स्वास्थ्य के बारे में कुछ सवाल उठाऊँ। अब जब कि मैंने अपनी लोकलिटी के बारे में आप को बता दिया है तो मेरे सवाल ये हैं:

क्या इस जगह के बारे में उस के अंदर के सामाजिक रिश्तों को नज़र-अंदाज़ किये बिना कल्पना की जा सकती है? ऐसी कल्पना जिस में ज़िंदगी और मौत, रिश्तों और स्वास्थ्य, इंसान और जानवरों को जुदा न किया जाए। अगर हाँ, तो ये कल्पना क्या है?

अरे! ये क्या हुआ! मेरे पेन ने एकदम से लिखना बंद कर दिया। लगा, अब मैं नहीं लिख पाऊँगा। क्या मेरे मन में वो बातें, जो सवाल ख़त्म हो गए जो मुझे लगा था कि उठ रहे हैं? क्या शब्दों की सियाली सुख गई है? क्या करूँ, कुछ समझ नहीं आ रहा है। मैंने बैठ कर लिखने की जगह बदली, पेन भी बदला, और कांपी का पना भी। मुझे लगा इस तरह सोच की ज़ंग ख़त्म हो जाएगी। पर ऐसा नहीं हुआ।

मेरे मन से होता हुआ कई चेहरों का काफ़िला गुज़रा...

वेदराम जी अभी नए-नए एक कंपनी में लगे हैं। वो कंपनी मोटर ठीक करने की है। एक मोटर ख़राब है, जिसे कंपनी का मालिक ठीक कर रहा है। चारों तरफ़ उनके नीचे काम करने वाले सभी खड़े हैं। कंपनी का मालिक जिस तरह से मोटर ठीक कर रहा है, वो तरीका तो सही है, पर बहुत लंबा है। उससे बेहतर तरीके तो बाकी लोगों को आते हैं। मालिक मोटर ठीक करते-करते सब को अपना तरीका सिखा भी रहा है। सभी आपस में कम आवाज़ में बातें कर रहे हैं और एक दूसरे को कह रहे हैं कि बेकार ही बक्त ज़ाया हो रहा है। तभी मालिक ने मोटर का एक तार ग़ुलत लगा दिया और सभी से पूछा, “कैसा है?” सभी ने धीरे से कहा, “ठीक है!” पर वेदरामजी बोले, “अरे, आप ने ग़ुलत कर दिया!”

क्या आप भी ऐसे किसी शख्स को जानते हैं जो बिना रिश्ते देखे, कभी भी, कहीं भी अपने मन की बात झट से बोल देता है?

एक शख्स है राजू भाई। वो दिखने में पतले और काले हैं। उन की तीन साल के बाद अब नौकरी लगी है। शादी के बाद जब नौकरी नहीं थी तो घर में रोज़ना झगड़े होते थे। मगर इन्हें के बाद भी वो सभी से घर से बात करते थे। आज नौकरी लगने के बाद उन का घर अच्छा चलता है। मगर अब राजू भाई जब ड्यूटी से आते हैं तो वो अपने छोटी-सी प्लास्टिक की खाट पर चुपचाप आने में सिमट कर बैठ जाते हैं। अपने सिर को दोनों हाथों से पकड़ कर उसी जगह लगभग पंद्रह-बीस मिनट तक बैठे रहते हैं। आगे कोई उनसे पूछता है कि, “राजू भाई, क्या हाल है?” तो वो अचानक गर्दन ऊपर उठाकर कहते हैं, “मज़े में” और इन्हांने कह कर अंदर चले जाते हैं।

क्या आप ऐसे किसी शख्स को जानते हैं, जो कुछ दबा-दबा सा रहता है, जिसके अंदर काफ़ी कुछ है मगर बाहर नहीं निकाल पाता, और लोगों को भी नहीं दिखाना चाहता?

एक लड़का जिसकी दिनचर्या इतनी छोटी, या फिर इतनी ही है: सुबह उठना, मुँह-हाथ धोकर खाना खाना, लंब बॉक्स बैंध कर काम पर ले जाना, जाते वक्त लोगों और गाड़ियों की भीड़ से भरी सड़कें देखना। काम पर पहुँचना, काम करना और रात को दस बजे घर जाते हुए खाली, सुनसान रस्तों से मिलना, उनसे बातें करना। घर पहुँचकर खाना खाना, और सो जाना। फिर अगला दिन भी ऐसे ही संदे का दिन कुछ अलग गुज़रता है। पर बहुत अलग नहीं।

मगर आज कारखाने में पूरी रात काम होने वाला था। घर पर बिना बताए वो सारी रात वहीं रहने के लिए राज़ी हो गया। वो डायरी बनाने का काम करता है। काम करने पर उसे रोज़ 80 रुपये मिलते हैं। और रात को काम करने के लिए 150 रुपये मिलेंगे। वहीं बाज़ार से खाना मँगवाया, खाया और काम करना शुरू किया।

पर घर में ख़बर? रोज़ सुबह काम पर जाने वाला और रात को सही वक्त पर वापस आने वाला लड़का आज इतनी देर बढ़ों लगा रहा है? इतनी देर हो गई घर नहीं लौटा। पूरे मोहल्ले में ढूँढ़ा, सड़क पर जा कर देखा, उसके गिने-चुने दोस्तों के घर पर जा कर पूछा। मगर हर जगह से उहाँ पर्याप्त ज़्यादा नहीं मिली।

इधर कारखाने में काम शुरू हो गया। अंदर हाथ-पैर चलाने की आवाज़, औज़ारों की आवाज़ और आस-पास चुप्पी है।

पहली बार ओवर-टाइम करने का मज़ा है। बाहर से आता हुआ सन्नाटा, अंदर कारखाने में अपना काम और अपनी मज़ाकिया खुसर-फुसर।

सुनसान सड़क को आज़ादी के साथ देखना।

रात को नए तरीके से देखने का नज़रिया।

नए तरीके से रात बिताने का मज़ा।

पर कहीं कुछ और हो रहा था: इस की तलाश! उन को भी एक नया अनुभव मिला, अपने किसी सगे-संबंधी को रात के वक्त सड़कों पर खोजना, और ऐसा करते हुए पूरी रात गुज़ार देना।

जब सुबह होगी और दोनों अपने-अपने काम से थक जाएंगे और घर पहुँचेंगे, तब क्या होगा?

अब इस सवाल ने मुझे जकड़ लिया — जब मेरे आस-पास इतने अनुभव, इतने चेहरे हैं, और जब मेरे पास सोचने का समय भी है, और वो शब्द भी जिन के ज़रिये मैं सोच सकूँ, तो फिर मुझे लिखने में दिक्कत क्यों हो रही है? मैं अपने लेख ऐसे कैसे लिखूँ कि आसपास के उभरते अनुभवों और अहसासों की तीव्रता, ठहराव, हलचल, बैचैनी को उनमें कुछ हद तक पकड़ पाऊँ? अब मुझे यहीं तलाश है।

सोच को रखना
सोच की रखने देना
सोच के देहराना
सोच की जाकार देना
सोच की परखना
सोचने पर ग़ज़बूर कर देना

सोच की रखना
सोच के देहराना

सोच से शर्मना
सोच कर शर्मना
सोच का उत्तर-योद्धाव
सोची हुई सोच

सोच की उत्तराई - सोच का साथा -

सोच की ज़्याक - सोच में उत्तराना -

सोच की ज़गह देना सोच कर नियर जाना -

सोच का पता
सोच की आवारगी
सोच में रहना
सोच से बेहवर लेना
सोच का ह़राव

सोच में झाँकना
सोच की तस्वीर
सोच का तनाव
ऐसा सोच नहीं

सोच में रहना
सोच को जीना
सोच की बदमाशी
लंबी सोच

सोच को समय देना
सोच को रोके रखना
सोच के माहौल बनाना
ह़ोमीच का दृष्टिकोण

सोच की तारफ़ - सोच का तारफ़
सोच की शुरूआत
सोच की नीति

सोच से प्यार करना
सोच को वर्णन



सोच में रहना
सोच को जीना
सोच की बदमाशी
लंबी सोच

सोच की तारफ़ - सोच का तारफ़

बड़े-बड़े शहरों में कुछ नम बातें

शाम का समय था। मैं खिड़की से बाहर झाँक कर, सांय-सांय हवा के झोके लेता हुआ, वहीं बैठा हुआ बाहर के माहौल में घूम रहा था।

नीचे से अम्मी की आवाज़ आई, “शमशेर, शमशेर, फैसल आया है!”
“अच्छा अम्मी, ऊपर भेज दो!”

“और भई आ!”

फैसल: अबे तू यहाँ क्या कर रहा है? मेरे मामू आए हैं, चल उनकी बाईक पर थोड़ा चक्कर लगाकर आएँ।

मैं बोला, “इतनी भी जल्दी क्या है। थोड़ी देर यहाँ बैठ, शाम की चाय आती होगी, चाय पीकर ही चलेंगे क्यों ठीक है ना?”

बस फिर क्या था। मैंने डॉयलॉग मारा था, मना कैसे करता! “हों” कर दी। बोला, “ठीक है थोड़ी देर में चलेंगे” इसके बाद कुछ मिनट हम दोनों खामोश बैठे रहे। फैसल वैसे देखने में बुरा नहीं है, खूबसूरत है। काले बाल, रंग गोरा, औँखों में नमी, नाक-नदशा सही और मासूम-सा चेहरा। पर आप लोग इसे इसके चेहरे से न पहचानें! काफ़िर शरारत भरी है इसमें, पर एक बच्चे की तरह। हँसना, चिल्लना, अचान्क्षित होने पर कहकरे लगाना और रुठ जाना, एक बच्चे जैसे ही। पर हाथ-पैर, शरीर बड़े की तरह। हाथ तो फावड़े हैं। बड़े आदमियों के भी ऐसे हाथ क्या होंगे जैसे उसके हैं। वो इसलिए कि वो कसाई है और गोशत बेचने का काम करता है। जो गोशत काटने के लिए चापा उठाता है, उससे ही उसके हाथ ऐसे हुए हैं।

मैं सोच रहा था कि इसके साथ मिल के छाँतों से बहते माहौल से बात करूँ। फैसल मेरी पतंग देखने लगा, मुस्कुराया, फिर बाहर के माहौल में आने लगा। अब वह खिड़की के बाहर बहने लगा, और बहुत अच्छी टिप्पणी देने लगा। वो टिप्पणियाँ जो दोस्त आपस में देते हैं। एक पतंग उड़ाते हुए बंदे की तरफ मुझे आर्किट करते हुए बोला, “अबे वो देख, कितनी-सी पतंग उड़ा रहा है। चौपड़ कहीं का!” वो जिसकी तरफ इशारा कर रहा था वो शायद 10 साल का लड़का होगा, जो चमकीले पेंच बनने वाले कारखाने में काम करता है। उससे पतंग नहीं उड़ाई जा रही थी, और वो पतंग भी तो किनीं छोटी थी। उसकी इस तरह की हरकत पर हम दोनों की हँसी छूट गई।

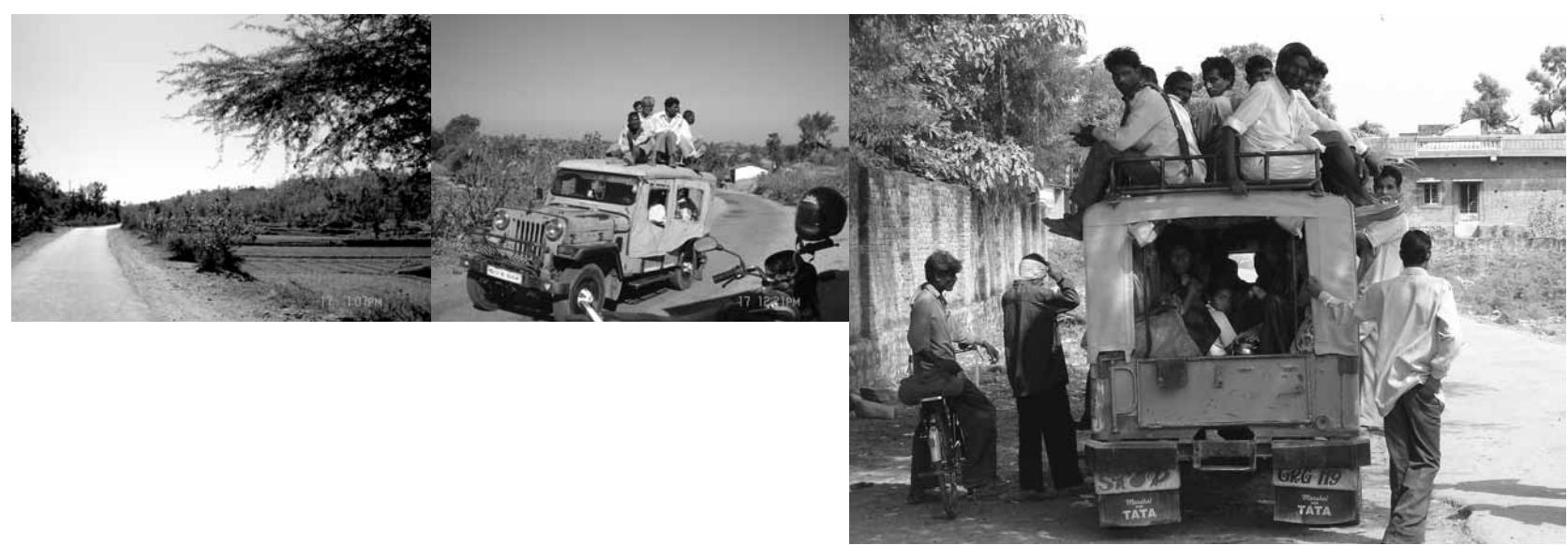
कुछ पल फिर शांत रहे, मगर समय बढ़ता रहा था। अब पतंगों आपस में इतनी बातें नहीं कर रहीं थीं। पतंग होती तो आसमान पर है, मगर लोगों की सोच में वह कहीं भी आती-जाती है। उसकी डोर पकड़े लोग आपस में पतंग के ज़रिये बात करते हैं, एक-दूसरे को चुनौती देते हैं। आपस में किसी रिश्ते से बने दोस्रे में बात करते हैं, डराते हैं। उनके फड़फड़ाने की आवाज़ हमें बताती है कि वो बहुत उत्साह में हैं और दुनिया से बातें कर रहीं हैं।

इतने में बहन चाय लेकर आ गई। हम चाय के कप पकड़े, उड़नी पतंगों को निहार रहे थे। तभी दो पतंग हरकत करने लगे। पतंगों के नाम भी होते हैं। अगर पतंग पर चॉट-तारा बने होते हैं तो उसे ‘चॉट-तारा’ कहते हैं। किसी पतंग पर औँखें बनी होंगी तो उसे ‘ओँखे’ कहते हैं। जिस किसी पतंग पर हाथों देश के छाँटे के तीन रंग हों संतरी, सफेद, हरा उसे ‘तिरंगा’ पुकारते हैं। ऐसे ही और बहुत सारी पतंगें होती हैं, जैसे परी, गिलास, डंडा, पटियाला, चॉट। पतंग के साइज़ भी होते हैं। मगर पतंग के दो ही साइज़ हैं — पौना और अच्छा। अच्छे से बड़ी पौना होती है। पतंगों को अच्छा-पौना करके भी पुकारते हैं।

उन दो पतंगों की हरकत होते ही फैसल बोल पड़ा, “यह ‘चॉट-तारा’ मेरी!” तो मैंने दूसरी पतंग को चुन लिया, “वो ‘गिलास’ मेरी!” फैसल उनकी हरकत को भाष पुकारा था। वो समझ गया कि ये आपस में लड़ने वाली हैं। पतंगों के आपस में लड़ने को ‘पेच लड़ाना’ कहते हैं। खुद चैलेजर बनकर मेरे समझने चुनौती का प्रस्ताव रखा। इस तरह हम लोग पतंगों को निहारते हुए आपस में पेच लड़ाते हैं — चाहे डोर हाथ में न हो। कभी अकेले में भी ऐसा करते हैं। जो पतंग सबसे ज्यादा जोश में होती है, हम उस पतंग को चुन लेते हैं और अपनी तरफ से जंग ऐलान कर देते हैं। दूसरे को मातृभी नहीं होता कि उससे कोई और भी लड़ रहा है।

मैं और फैसल आपस में बहस करने लगे और डॉयलाग के साथ-साथ हम हाथ-पैर के मूवमेंट एक पतंग उड़ाने जैसे करने लगे। कभी वो जांस में लेता तो कभी मैं। पर मैं ‘चॉट-तारा’ से ज्यादा फुर्ती वाला नहीं निकला और उसने मुझे फँसाकर ऐसी रिंचाई मारी कि ‘गिलास’ वाले के हाथ में सिर्फ़ डोर ही रह गई। उसके इशारे पर नाचने वाली पतंग हवा में बहती हुई पेंड़ में लटकने जा रही थी। यह फैसल के लिए खुशी की बात थी। वो अब भी पतंग उड़ा रहा था। तभी पीछे से दबे पौंच ‘तिरंगा’ आई और सांय से ‘चॉट-तारा’ की डोर काट दी। यह देखकर फैसल शांत हो गया और ‘तिरंगा’ के मालिक को कोसने लगा। पता नहीं कोई और भी हम जैसा ‘तिरंगा’ उड़ा रहा था या नहीं।

फैसल ने अब चलने को कहा। अब तक हमारी चाय भी पेट में पहुँच चुकी थी। मैंने उस माहौल को खुद से बातें करने के लिए छोड़ दिया।



बड़े-बड़े शहरों में कुछ नम बातें



कुछ शब्द होते हैं जो हम अपनी ज़िंदगी में न जाने किनी ही बार इस्तेमाल करते हैं। जैसे कि “सुन”, “सुना”, “सुनना”।

“तुम सुनते नहीं हो”, “आप सुन कर भी अनसुना कर सुन देते हो”, “सुन तो लो”, “कोई मेरी सुन बात नहीं सुनता”, “कान खोल कर सुन लो”, “उसकी सुनोगे तो पछताओगे”। और कुछ कहते हैं कि “हमेसा कुछ ना कुछ सुनता ही रहता है”。 इन शब्दों से शायद हम एक कहानी की तलाश करने लगते हैं, और वो कहनियाँ हमें अपने माँ-बाप, दादा-दादी, दोस्त-यार और आसपास के लोगों से मिल जाती हैं। जैसे “तुम मुझे सुनते नहीं हो” या “आप मुझे सुनकर भी अनसुना कर देते हो”, ये शब्द जब मैं अपने घर में बैठा होता हूँ तो ममी-पापा की बहस में एक जगह बना लेते हैं।

कल ही की बात है ममी के 3 महीनों से पैर में दर्द हो रहा था। ममी ने पापा से कहा, “पैर की हड्डी बाले डॉक्टर को दिखवा दो।” ये सुनकर पापा ने कहा, “भई ठीक है, दिखवा दूँगा।”

तो ममी ने कहा, “पिछले तीन महीने से कह रहे हो कि दिखवा दूँगा। पर कब दिखवाओगे? न जाने वो दिन कब आयेगा! आप मुझे सुनकर भी अनसुना कर देते हो।”

घर में तो इस तरह की बहस होती ही रहती है। इससे बचने के लिए और थोड़ा मौज़-मस्ती के लिए मैं बाहर गया। पर वहाँ फिर से इस “सुनना” शब्द ने मुझे कहीं से आकर घेर ही लिया। मेरा दोस्त न जाने कब से मुझे पीछे से काफ़िर देर से आवाज़ दे रहा था। वो आवाज़ मारता हुआ मेरे पास ही आ खड़ा हो गया और कहने लगा, “यार कभी मुझे भी सुन लिया कर।”

मैंने कहा: क्या बात है?

उसने कहा: यार कोई मेरी बात ही नहीं सुनता।

ये सुनते ही मैंने सोचा कि यार इसी शब्द से छुटकारा पाने के लिये मैं बाहर आया था। पर अभी भी मुझे इसने दबोच रखा है।

मैंने कहा: अब जब इसने मुझे दबोच ही लिया है तो यार अब सुना तुझे क्या सुनाना है।

उसने कहा: फिल्म देखने चल।

मैंने सोचा कि शायद अब मुझे सुनना-सुनना शब्द से छुटकारा मिल जाए। हम दोनों टिकट लेने वाली लाइन में लग गए। तभी एक बन्दे ने मुझे पीछे से आवाज़ मारी, “भई काली पैन्ट, काली शर्ट!” मुझे लगा कि वो मेरा हुलिया बता रहा है। मैंने पीछे मुड़ने के लिये गर्दन मोड़ी तो उसने कहा, “सुनियो भाई!” मैंने अपने माथे पर हाथ मारा और कहा, “यार सुना! अब तुम्हें क्या सुनाना है?”

वो बोला, “भई आप मेरी भी टिकट ले लोगे?”

मैंने थोड़ा लड़कियों की तरफ देखते हुए कहा, “ला भाई, ले लेता हूँ।”

तभी पीछे से आवाज़ आने लगी, “ओ भाई! ओ नाटे! अबे ड्रामे! सुनियो! हम पागल हैं जो लाइन में लगे हैं?”

मैंने सोचा कि कहीं ये सारे भयकर से पुरुष मुझे मारे ना। यहीं इज्जत का फलूदा हो जायेगा। मैंने पैसे बापास दिए और टिकट लेकर अन्दर चला गया और सोचने लगे की आज तो सुनना ही सुनना पड़ रहा है। चलो, अंदर तो शायद इस ज़मेले से कुछ पल के लिए मैं अपना पल्टू छुड़ा सकूँ।

फिल्म में सीन चल रहा था। हीरो-हीरोइन में बातचीत चल रही थी। एकदम से ही एक रोमांटिक सीन चला और हीरोइन एक गाना गाने लगी। मैं बड़े चाव से गाने को सुनने के लिए सीट के थोड़ा आगे की तरफ खींच कर बैठा तो गाना था, “सुनो ना, सुनो ना, सुन लो ना” मैं हँसता भी और सोचता भी कि आज तो ये सुनना शब्द मुझे पछाड़ कर बैठा देगा। मैं घर लौटकर थोड़ा आराम करने लगा। बिस्तर पर लेटा तो सोचने लगा कि सुनते तो हम बहुत कुछ हैं। पर कोई आवाज़ हमें अपनी तरफ पूरी तरह पुश करके हमारा ध्यान खींचती है, तो कोई गास्ते में ही जम जाती है हमें अपनी तरफ ध्यान देने पर मजबूर कर देती है। “सुनो”, “सुनो तो सही”।

अब मैं लम्बी-लम्बी जम्हाई भरने लगा और सोचने लगा कि आज तो मुझे सुनना ही सुनना पड़ा। पर कभी कोई ऐसा दिन आएगा जब मैं कहूँगा, “सुन बे! सुन ले! सुन तो!”

गले मिलने के लिए जो पहले बाहें फैलाता है, वो कौन है?

हमारा बाहर की परचून की दुकान से खाता चलता है। वो बिना कुछ कहे सामान दे देते हैं। पर आज वो सामान देते हुए बोले, “घर में कोई आया है क्या?”

भीड़ जमा होती है। क्या भीड़ की नज़रें मेज़बान होती हैं?

चाय की दुकान है। बस से कोई अजनवी उतर कर वहाँ आया और बैठा। इससे क्या वहाँ के सुनने के माहौल में कोई फ़र्क़ पड़ेगा?

आपके घर कोई किराएदार आया कमरा लेने के लिए। वो कौन है — मेहमान या मेज़बान?

कई मेहमानों को मेहमान नहीं कहा जा सकता, सिर्फ़ महसूस किया जा सकता है।

कानों के चौखट पर, बालियाँ लटका कर, गुज़रती हुई आवाज़ें जो न्योता देती हैं।

घर में लड़की की शादी है, गेस्ट हाऊस बुक किया है। आप भी जा रहे हैं, लड़के वाले भी आ रहे हैं। दोनों के जूते पॉलिश हैं, दरवाज़े पर उतरे हैं। इनमें मेहमान कौन, मेज़बान कौन? इन्हीं जूतों में अब एक और जोड़ी जूता है, उसका, जो रोज़ सुबह गेस्ट हाऊस की सफाई करता है। अब इस सिच्वेशन को हम कैसे सोचें?

चलती बस/ट्रेन में चढ़ने वाले यात्री मेहमान हैं या मेज़बान, और उसमें पहले से बैठे यात्री?

मैं रोज़ उनसे प्रेस करवाता हूँ, पर आज वो कपड़े गिनते वक्त बोले, ‘क्यों कहीं जा रहे हो क्या?’

शाम को काम करके वापस आए पापा के लिए माँ सारे काम छोड़ कर चाय बनाने में जुट जाती हैं। तो क्या पापा मेहमान हैं या मेज़बान?

मेहमान-नवाज़ी में ग़लती करने की जगह कितनी होती है?

कुछ लोग जो हमेशा मेज़बान का ही रोल निभाते हैं कुछ ख़ास जगहों पर। जैसे गेट कीपर, जो सबको मुस्कान देता है।

एक चलते-फिरते ग़स्ते में वो कौन-कौन सी चीज़े होती हैं जो हमें न्योता देती हैं?

गले लगते रास्ते चले जाते हैं और फिर और लगते हैं, और गले मिलने-अपने रास्ते चले जाते हैं।

हर शहर की ज़िंदगी का सफर न जाने कितनी मुलाकातों से सजा होता है। सुबह उठते ही अकसर हमारी मुलाकात आइने में अपने आप से होती है। कभी आइने पर लगा कोई छोटा-सा निशान हमें किसी बीते लहरे की याद दिला देता है। जब हम घर से बाहर क़दम रखते हैं, जैसे कि परचून का समान लेने के लिए, तो समान ख़रीदते वक्त हम अपने जाने-पहाने दुकानदार से मिलते हैं। उससे जैसा सिस्ता होता है, जिस उम्र के हिसाब से हम उन से दुआ-सलाम करते हैं। काम करने के लिए जब घर से बाहर निकलते हैं, तो साइकल या बस में सवार और मुसाफिरों से मुलाकात होती है। माहौल के हिसाब से उन से ये मुलाकात अलग-अलग तरह से होती है। जैसे कि अगर बस भरी हो, तो माहौल कुछ हो जाता है, बाहर तेज़ बारिश हो रही हो तो कुछ और, और ड्रैफ़िक जैम में फ़र्से हों, तो कुछ और।

कभी जब हम घर को लौट रहे होते हैं तो कोई भूला-भटका अजनवी किसी पते की तलाश में हमें मिल जाता है, और उससे दो घड़ी कुछ बात हो जाती है। कभी, जब हम खुद ही भटके हुए, या माझे सुनाई देता है, तो हम किसी को तलाशते हैं, उससे बात कर के अपने मन को हल्का करने के लिए। हमें कभी कुछ नज़र आता है, या कुछ सुनाई देता है, जैसे किसी ऐसी मुलाकात का ध्यान कर देता है जो पहले हुई हो, या अभी हुई न हो, पर जिस की हमें उमंगद या चाहत हो।

हम जहाँ भी हों — किसी कतार में, किसी सिनेमा हॉल में, किसी बाज़ार में — किसी न किसी से तो मुलाकात हो ही जाती है। इन मुलाकातों में इत्तेक़ भी होता है, किस्मत भी, हालात भी और कभी-कभार ज़िद्द या फ़रियाद भी।

इन्हीं मुलाकातों से रोज़ अपनी रफ़तार से चल रही ज़िंदगी में रंग और अलग-अलग ज़ाइके भरते हैं। मुलाकातें, जिन में लोग मिलते हैं, गले लगते हैं, और फिर अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं। चीज़ें जुड़ती हैं, और पिसेए हुए मोतियों की डोर ढूटने पर जैसे मोती बिखर जाते हैं, बिखर भी जाती हैं...

पिछले संदे मैं अपनी ख़ाला के घर गई। उन्होंने अभी नया घर लिया है, वज़ीराबाद में। ख़ाला ने एक बार में ही सब को दावत और कुरानख़ानी के बहाने अपने घर बुला लिया। लगभग पूरा ख़ानदान इकट्ठा हो गया था। एक दावत का माहौल बना हुआ था।

हम बहनें, यानि मेरे मामू की लड़कियाँ, मैं और मेरी बहन, छठ पर हँसी-मज़ाक और अपनी-अपनी बातें कर रहे थे। वज़ीराबाद में अभी ज़्यादा मकान नहीं बने हैं, और जो बने हैं वो एक-दूसरे से काफ़ी दूर-दूर हैं। इसलिए ख़ाला के घर से सड़क तक का गास्ता साफ़ नज़र आता है। अचानक हमारी नज़र चार लड़कों पर पड़ी जो सड़क से घर की तरफ़ आ रहे थे। उन चारों के हाथों में भारी-भारी सफ़ेद रंग के पॉलीथीन थे, बातों में तरह-तरह के रंग और कपड़े भी स्टाइल वाले लग रहे थे। दरअसल उन के बाल ऐसे थे कि रधे के बाल भी उन के सामने शरमा जाएँ। हम लोग उन का मज़ाक उड़ा रहे थे और उन के बालों और चलने के स्टाइल पर हँस रहे थे।

जब वो हमारे घर के पास आए, तो वो ख़ाला के बेटों से बोलने लगे। पता लगा कि वो उन के दोस्त हैं। वो सभी डॉस ग्रुप में साथी हैं। उस वक्त अपने भाईयों के उस रूप के बारे में सोच कर हमें काफ़ी अचेंगा हुआ।

उस दिन जब अपनी सहेली के घर से मैं वापस आपने घर पहुँची तब घर में मम्मीजी के अलावा कोई नहीं था। मम्मी जी हैंडीक्राफ्ट का माल बना रही थीं। उनके बेटेरे पर मसरूफ़ियत का भाव था। थोड़ी देर मम्मी काम करती रहीं, फिर उन्होंने सिर उठा कर मेरी तरफ़ देखा और कहा, “तूने अपने सुसुर से किस तरह से बात की थी? वो बहुत गुस्सा है!” इस बात को सुनकर कई तरह के माहौल दिमाग़ में भूमने लगे। मेरा मन बहुत ख़रब हुआ। काफ़ी सोचने पर भी मुझे ख़याल नहीं आया कि आखिर ऐसा हुआ क्या था। जिसकी वजह से ये बात उठी। मेरे मन में काफ़ी उथल-पुथल रही पर मैं किसी से कुछ कह या पूछ भी नहीं पाई। काफ़ी रात हो गई। बिस्तर पर लेट कर मैं सोचने लगी कि, “काश बातें दस्तक दे कर, इज़ाज़त माँग कर कानों के अंदर दाखिल होती हैं।”

कल जब मैं बाज़ार से घर की तरफ़ आ रही थी तो मुझे रास्ते में कुछ लोग बातें करते हुए हुए नज़र आए। उन के पास से गुज़रते हुए मुझे उन की बातें सुनाई दीं। उन में से एक औरत दूसरी औरत से कह रही थी, “तुम ज़ल्दी से अपनी पर्ची कटवा लो, नहीं तो कोई और पहले कटवा लेगा।” औरत ने जबाब दिया, “मैं ऐसा नहीं होने दे सकती! मैंने उस मकान के एक हज़ार रुपये दिये हुए हैं।” वो बहुत ज़ल्दी में लग रहे थे। बात ख़त्म करने से पहले ही वो तेज़-तेज़ आगे के चलने लगे। मैं भी अपने घर की तरफ़ चलती रही।

जब पहली बार मुझे कोई देखने आया तब मुझे कुछ अचेंगा नहीं हुआ क्योंकि मुझे इस के बारे में पहले से ही बता दिया था। मुझ से कहा गया था कि मैं घर में ही रहूँ, यहाँ-वहाँ किसी सहेली के यहाँ न चली जाऊँ। तब मैं काफ़ी छोटी थीं। उस दिन मेरे दिमाग़ में काफ़ी उथल-पुथल थीं। क्या होता? वो मुझ से क्या पूछेंगे? मुझे चुप ही रहना होगा क्या? ऐसे कई सवाल मेरे मन के समंदर में गोते लगा रहे थे।

लड़के वाले आए। मैं उनके सामने गई। मेरे सब घरवाले वही उस कमरे में उन के साथ बैठे थे। लड़के वालों ने मुझ से मेरा नाम पूछा, और मैंने थीमी आवाज़ में जबाब दिया। फिर उन्होंने मुझ से मेरी पढ़ाई वैग़रह के बारे में भी पूछा। फिर अबू ने कहा, “ठीक है। अब अंदर जाओ।” मैं दुआ-सलाम करती हुई वहाँ से चली गई। काफ़ी दिन बीत गए, पर उन के यहाँ से कोई जबाब नहीं आया। मैंने सोचा कि आखिर क्या हुआ जो मैं उन्हें पसंद नहीं आई? मेरे मन में बहुत उदासी हुई।

पर अब जब कोई मुझे देखने आता है तो मैं चिढ़-सी जाती हूँ, कि बार-बार नुमाइश पर क्यों लगाई जाती हूँ? मैं अब उन के सामने अपने आप को बैरी मैं हूँ, वैसे ही पेश करती हूँ। जो मन में चल रहा होता है, वो कह देती हूँ। कुछ बनावट नहीं करती। मुझे उन कोई परवाह नहीं। मैं अब वो छोटी लड़की नहीं रही जो कुछ समझ न सके। और जब लड़के वालों की तरफ़ से जबाब नहीं आता तो मैं अपने बारे में ऐसा-वैसा सोचने की जगह अल्टलाह मियाँ का शुक्र अदा करती हूँ।

जब भी हमारे घर में कोई मेहमान आना होता है तो मम्मी सुबह से ही तैयारी शुरू कर देती है। साफ़-सफ़ाई, खाना बनाना, कपड़े तैयार करना वग़ैरह। उस दिन सब से ज़्यादा शामत मेरी आती है, क्योंकि सुबह से शाम तक कई बार मम्मी मुझे बाज़ार दौड़ाती है। कभी ये लाओं, तो कभी वो लाओं। पूरा दिन इसी में गुज़र जाता है। यहाँ तक तो पिर भी ठीक है। मेहमान के आने पर जो घर की हालत होती है, उस का क्या बताऊँ! सब कमरे में बैठ जाते हैं और हल्की-हल्की आवाज़ में बातें करते हैं। सोचता हूँ कि मेहमानों के आने से घर किस तरह किसी नाटक का स्टेज बन जाता है।



किसी राहगीर का इंतज़ार करती एक जगह जहाँ कई कोने हैं

एक प्याली चाय कितने तृप्ति में गर्मी लाती है

“बस एक कप चाय मिल जाती तो.....”

“इसकी क्या ज़रूरत थी!”

“आप चीनी कितनी लेंगे?”

“साथ में कुछ मँगवाऊँ क्या?”

“दो कटिंग, मलाई मार के, जल्दी!”

“एक कप चाय मिलेगी?”

“आपने तकल्लुफ़ क्यों किया?”

“ज़रूरत है, ज़रूरत है, ज़रूरत है...”

“पानी रोक के, दूध ठोक के, मलाई मार को।”



“आपको इसकी ज्यादा ज़रूरत है।”

“चाय पीते हुए बात करते हैं।”

“उठते-बैठते चाय दिया कर यार, बोर हो जाता हूँ।”

“चाय न हो गई, बीरबल की खिचड़ी हो गई।”

“अब आ ही गए हो तो चाय पी कर जाना।”

“थोड़ा रुक जाते हैं, चाय आती ही होगी।”

“आराम से पीना, गर्म है।”

“ये गया, ये आया, दो प्याली चाय अभी लाया।”

‘अरे, बड़ी जल्दी ख़त्म हो गई चाय!